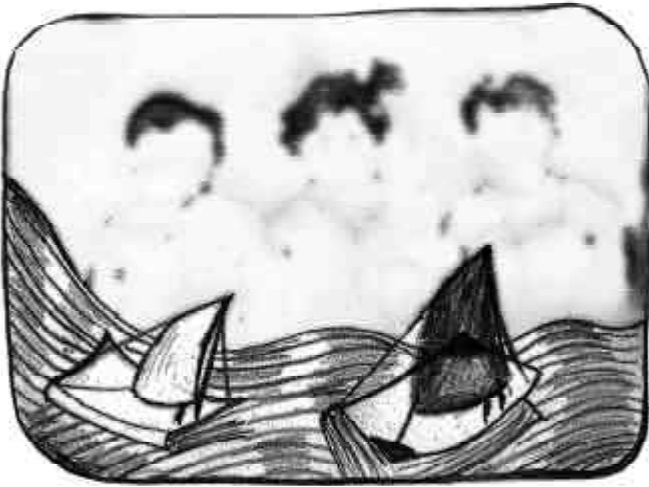


# शिक्षा, राजनीति और विचारधारा

सभी चित्र: जितेंद्र ठाकुर



## रिनचिन और महीन

यह साक्षात्कार मध्यप्रदेश के एक छोटे-से कस्बे में उभरते शैक्षिक और राजनैतिक परिदृश्य की विस्तार से चर्चा करता है और उन मुद्दों पर प्रकाश डालता है जिन्होंने कम-से-कम तीन पीढ़ियों से इस कस्बे को प्रभावित किया है। यहाँ प्रस्तुत विचार एक ही परिवार की तीन पीढ़ियों से बातचीत में से निकलकर आए हैं और हमें इस कस्बे में दादा की पीढ़ी से लेकर आज की पीढ़ी के लोगों तक शिक्षा के प्रति उनके दृष्टिकोण में आए बदलाव की झलक देते हैं।

ह मने प्रकाश जी और उनके परिवार का साक्षात्कार लिया क्योंकि हमें बताया गया था कि वे इस कस्बे में शिक्षा हासिल करने वाले प्रारम्भिक दलितों में से थे। खुद वे और उनके दो बड़े बेटे मिशन स्कूल में पढ़े थे।

प्रकाश जी दो बार नगर पालिका के पार्षद भी रहे। “मैं बचपन से ही किसी-न-किसी राजनैतिक प्रक्रिया का हिस्सा रहा हूँ। भारत छोड़ो आन्दोलन के समय यहाँ एक बड़ा जुलूस हुआ था। मैंने भी उसमें हिस्सा लिया था और वहीं से राजनीति में मेरा प्रवेश हुआ। तभी से मैं काँग्रेस के साथ हूँ।”

प्रकाश जी का सबसे बड़ा लड़का राजेन्द्र भी राजनीति में है पर उसका झुकाव बसपा (बहुजन समाज पार्टी) की तरफ है। “मैं अम्बेडकर की शिक्षा में विश्वास रखता हूँ,” वह कहता है। “हमारी पार्टी बहुत सशक्त नहीं है पर इतनी तो है कि हम किसी उम्मीदवार को हरवा सकते हैं, भले ही हम खुद न जीतें। जब मैं अपने पिता की कहानी सुनता हूँ कि कैसे एक खास जाति का होने की वजह से उन्हें बुरा बर्ताव झेलना पड़ा, तो मुझे क्रोध आता है। इससे मेरे भीतर इस बारे में कुछ करने की भावना पैदा होती है। इसीलिए मैं बसपा के साथ हूँ।”

“इनकी पार्टी तो बहुत कठोर है,” पिता ने बीच में बोलते हुए कहा। “इनके कुछ नारे बहुत कठोर हैं, उनसे

दुख होता है। चीजों को बदलने के लिए ज़रूर काम करना चाहिए, पर हमेशा ख्याल रखना चाहिए कि हमारे शब्दों और विचारों में हिंसा का कोई स्थान न हो। जूते-चप्पल मारने की बात क्यों करनी?” इस पर बेटा हँस कर बोलता है, “अरे तब वो नारा उस समय के लिए ठीक था।”

सबसे छोटा लड़का, अजीत कहता है कि वह राजनीति से दूर है। वह कबीर भजन गाने-बजाने वालों के एक समूह, कबीर मंच से जुड़ा हुआ है, और ये लोग मालवा क्षेत्र की लोकप्रिय धर्मनिरपेक्ष परम्परा का हिस्सा हैं। पर अब गाने-बजाने के साथ-साथ वह यूपीएससी (UPSC) परीक्षा पास करने के लिए पढ़ाई कर रहा है। वह कुछ दोस्तों के साथ इन परीक्षाओं की तैयारी के लिए



दिल्ली जाने के बारे में सोच रहा है। “मुझे नहीं पता कि मैं यहाँ क्या कर पाऊँगा। मैंने इन्दौर में पढ़ाई की है और अब मुझे लगता है कि दिल्ली जाने से मुझे आगे बढ़ने में मदद मिलेगी। मुझे इस जगह से प्यार है, यह मेरा घर है, पर आगे बढ़ने के लिए बाहर तो निकलना ही पड़ता है।”

पिछली बार उसने राज्य प्रशासनिक सेवा की प्रारम्भिक परीक्षा उत्तीर्ण कर ली थी, पर मुख्य परीक्षा पास नहीं कर पाया था। “मेरे दो पेपर खास अच्छे नहीं हुए थे,” उसने बताया। “तो इस बार मुझे ज़्यादा मेहनत करना होगी। मैंने सुना है कि प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी करने के लिए कोटा, इलाहाबाद और दिल्ली अच्छी जगहें हैं। इसीलिए मैं दिल्ली जाने की सोच रहा हूँ। दिल्ली सबसे अच्छी जगह है।”



राजेन्द्र हमें अपने परिवार के बारे में बताने लगता है: “मेरे पिताजी को एक अंग्रेज़ ने शिक्षित किया था, जिसने एक प्रकार से उन्हें गोद ही ले लिया था जहाँ तक कि उनकी शिक्षा का सवाल था। फिर पिताजी ने हमें शिक्षित किया – अपने सभी बेटों को। मेरे बाद हमारी दो बहनें भी थीं। पिताजी ने उन्हें शिक्षित नहीं किया और वे दोनों स्कूल नहीं गईं। उनकी शादी कम उम्र में कर दी गई। पिताजी ने उन्हें शिक्षित क्यों नहीं किया, मैंने उनसे कभी यह सवाल नहीं पूछा। इसका कारण केवल वे ही आपको बता पाएँगे।”

जब राजेन्द्र ने बताया कि वह मिशन स्कूल में पढ़ा था, तो मैंने तुरन्त उससे यह सवाल किया कि क्या उसे अपने साथ किसी लड़की को भी ले जाना पड़ा था। “क्यों?” उसने पलटकर पूछा। मैंने उसे बताया कि मैंने ऐसा सुन रखा था कि मिशन स्कूल में ऐसा नियम था कि लड़कों को तभी दाखिला मिल पाता था जब उनके साथ कोई लड़की भी होती थी। “क्या वाकई ऐसा था?” राजेन्द्र ने पूछा। “मुझे याद नहीं, लेकिन यह ज़रूर था कि हमारे पड़ोस की एक लड़की थी जिसके साथ मैं स्कूल जाता था... सम्भव है कि मुझे उसके साथ होने के कारण ही दाखिला मिला हो। मैं पक्के तौर पर नहीं कह सकता। इस बारे में हमें पिताजी से

पूछना पड़ेगा।” वह याद करने की कोशिश करता रहा, “मुझे याद है कि मैंने स्कूल की पढ़ाई उसी के साथ शुरू की और हम साथ ही जाया करते थे।”

राजेन्द्र के पिता, प्रकाशजी शासकीय स्कूल में पढ़ने के अपने अनुभव बताते हैं। “20 के दशक के शुरुआती वर्षों में तो हमें टाटपट्टी तक पर बैठने नहीं दिया जाता था। पानी भी ऊपर से पिलाते थे। इस वजह से हमारे सारे कपड़े गीले हो जाया करते थे। पानी हमारी कोहनियों और बाजुओं से टपकता हुआ कपड़ों पर आ जाता था।

“मैंने स्कूल छोड़ दिया क्योंकि मैं यह भेदभाव नहीं झेल सका। इसके बाद मैं मिशन स्कूल पढ़ने गया, पर मैं वहाँ भी तालमेल नहीं बैठा पाया। फिर मिशन अस्पताल के इस अंग्रेज़ व्यक्ति ने, जिसके घर मैं छोटे-मोटे काम करने के लिए जाया करता था, मुझे पढ़ाना शुरू किया। और इस तरह मैंने पढ़ना-लिखना सीखा। इसके बाद जल्द ही मैंने मिशन अस्पताल में वॉर्ड बॉय की तरह काम करना शुरू कर दिया और ताउम्र वहाँ काम करता रहा। कुछ साल पहले ही मैं रिटायर हुआ हूँ।”

“मैंने अपने बच्चों को पढ़ने के लिए मिशन स्कूल भेजा और फिर शासकीय स्कूल भी भेजा। मेरी कोशिश थी कि उन्हें वह सब मिले जो मिल सकता था। इन लोगों ने वह दौर नहीं

देखा है जो मैंने देखा है।” अपने साथ हुए भेदभाव के बारे में बताते हुए वे कहते गए, “जिस पीड़ा से मैं गुज़रा हूँ, इन लोगों ने उसे नहीं भोगा है। इन्हें उसके बारे में कुछ नहीं पता। समय बदल गया है और यह कस्बा भी बहुत बदल गया है। पहले बिजली आई, फिर वाहन आम हो गए और अब तो देखिए क्या-क्या आ गया है,” अपने बेटों की तरफ देखते हुए उन्होंने कहा।

मैंने प्रकाश जी से पूछा कि उनकी बेटियाँ स्कूल क्यों नहीं गईं। वे मुस्कुरा दिए और कहने लगे, “मुझे पता था कि आप पूछेंगे कि ऐसा क्यों हुआ। पर उस दौर में लड़कियों का स्कूल जाना इतना आम नहीं था और हमने इन बातों के बारे में इतना सोचा भी नहीं था। उस समय सामाजिक नज़रिया अलग था। यहाँ तक कि जब मैंने अपने बड़े बेटे की शादी की, तो मैं यह सोचकर अशिक्षित बहू ही लाया कि पढ़ी-लिखी लड़कियों के बड़े नाज़-नखरे होंगे और वे घर नहीं चला पाएंगी। पर अब मेरी धारणा बदली है। मेरी अन्य दो बहुएँ शिक्षित हैं और मैं हमारे प्रति उनकी स्नेह की भावना में कोई कमी नहीं पाता। तो देखिए हम लोग भी सीख रहे हैं।”

उनका लड़का आगे कहता है, “पर मेरी बड़ी बहन की बेटियाँ पढ़ रही हैं। एक ने बी.एससी. कर लिया है। वह अब 20 साल की है पर हम उस पर शादी के लिए दबाव नहीं डाल रहे

हैं। हम उचित वर मिलने का इन्तज़ार करेंगे। तब तक वह अपनी पढ़ाई कर सकती है और अपनी [शैक्षणिक] योग्यताएँ पा सकती है।”

सबसे बड़े लड़के के पास अपने बच्चों की शिक्षा के बारे में बताने के लिए बहुत कुछ है। यह विषय उसके दिल के करीब है, और वह स्कूलों के चयन, बच्चों के नम्बर, शिक्षा के स्तर आदि का विस्तार से वर्णन करने लगता है। “मेरे लिए सबसे महत्वपूर्ण बात स्कूल का शैक्षिक स्तर है। मैं समय-समय पर इसकी जाँच करता रहता हूँ और यदि ज़रूरत लगती है तो हर दो साल में बच्चों का स्कूल बदल देता हूँ।” चूँकि अब कस्बे में कई सारे स्कूल हो गए हैं और अलग-अलग सुविधाओं के साथ नए-नए स्कूल खुलते जा रहे हैं, अतः अब स्कूल बदलना कोई बड़ी बात नहीं है। “मेरी बेटी अब 12वीं में है,” वह आगे कहता है, “और उसने तीन बार स्कूल बदले हैं। सबसे पहले वह ऐसे स्कूल में थी जहाँ

प्राथमिक शिक्षा का स्तर काफी अच्छा था। फिर, बीच में जैन स्कूल को आजमाने के बाद, उसके 11वीं और 12वीं में पहुँचने पर मुझे एहसास हुआ कि पाटीदार स्कूल के बच्चे ज़्यादा अच्छे नतीजे ला रहे हैं। तो मैंने उसे वहाँ डाल दिया। प्राइवेट स्कूलों की फीस बहुत ज़्यादा है, पर आखिर बच्चों की शिक्षा ही तो वो चीज़ है जहाँ माता-पिता अपनी सारी जमा-पूँजी लगाना चाहेंगे।”

राजेन्द्र हमें एक घटना के बारे में बताता है: “मेरी बेटी 8वीं की गणित परीक्षा में फेल होते-होते बची। मैं कस्बे के सबसे अच्छे गणित शिक्षक के पास गया। उन्होंने मेरी बेटी को लेने से मना कर दिया, हालाँकि मैं उन्हें जानता था। “मैं कमज़ोर बच्चों को नहीं लेता। यदि गणित में उसके खराब नम्बर आ रहे हैं, इसका मतलब है कि शायद उसके पास



गणित में अच्छा करने के लिए आवश्यक योग्यता नहीं है,' उन्होंने कहा। मेरा उनसे सवाल था कि क्या कमज़ोर बच्चों के साथ प्रयास नहीं किया जाना चाहिए। पर उन्होंने फिर भी मना कर दिया। फिर मैंने उनके प्रतिद्वन्द्वी को खोजा – उन्हीं के स्कूल के एक अन्य शिक्षक। दो साल बाद यही लड़की अपनी बोर्ड परीक्षा में 90% अंक लेकर आई है। ये सभी स्कूल वाले बड़े नकचढ़े होते जा रहे हैं। वे सिर्फ सबसे होशियार बच्चों को ही लेना चाहते हैं। उन्होंने इसके लिए अंक-सीमा भी निर्धारित कर रखी है। यह सब इसलिए ताकि उन्हें बहुत अच्छे नतीजे मिल सकें। सरकारी स्कूल के नतीजे इतने अच्छे नहीं होते क्योंकि उन्हें तो सबको लेना पड़ता है।”

“इसके बाद मैं उसे कॉलेज भेजूंगा ताकि वह अँग्रेज़ी साहित्य में बी.ए. कर सके,” अपनी बात को जारी रखते हुए राजेन्द्र कहता है। “अभी उसने गणित के साथ विज्ञान ले रखा है। इस तरह वह इस समय सबसे ज़्यादा माँग वाले दो विषयों, अँग्रेज़ी और गणित में दक्ष हो जाएगी। वह सरकारी नौकरी हासिल कर सकती है, या फिर ट्यूशन भी पढ़ा सकती है। हमने इन सारी बातों के बारे में सोचा है ताकि उसका भविष्य सुरक्षित हो सके।” वह अपनी बात खत्म करता है।

इसके बाद चर्चा का रुख कस्बे में स्थित विभिन्न स्कूलों के धार्मिक और जातीय जुड़ावों की ओर मुड़ता है।

क्या इन जुड़ावों या सम्बन्धों ने किसी भी प्रकार से विद्यार्थियों के व्यक्तित्व को प्रभावित किया है?

“नहीं,” राजेन्द्र कहता है। “जब ऐसे स्कूल शुरू हुए थे तो सभी समुदायों को लगा था कि ये स्कूल उस समुदाय विशेष के बच्चों की ज़रूरतों को पूरा करेंगे। पर अब उन स्कूलों को केवल नाम से ही सामुदायिक स्कूल माना जा सकता है, और वह भी उन ट्रस्टों के कारण जो उन्हें चलाते हैं, न कि उस स्कूल में पढ़ रहे विद्यार्थियों की पृष्ठभूमियों के कारण। मिशन स्कूल में तो सभी जातियों के बच्चे पढ़ते थे। ऊँची जाति के लोगों ने अपने बच्चों को उस समय वहाँ इसलिए भेजा क्योंकि वहाँ अच्छी और अँग्रेज़ी शिक्षा मिलती थी। उन्होंने वहाँ अपने बच्चों को दलित बच्चों के साथ पढ़ने दिया क्योंकि पढ़ाई का स्तर अच्छा था। और आज हम भी इसी मानदण्ड पर अपने बच्चों के लिए स्कूलों का चुनाव करते हैं।”

“और मुझे मिशन स्कूल के बारे में एक बात और कहना पड़ेगी,” वह आगे कहता है, “हालाँकि वह स्कूल मिशनरियों और ईसाई लोगों द्वारा चलाया जाता था, और वहाँ एक ईसाई प्रार्थना होती थी, पर स्कूल पर धार्मिक प्रभाव बस यहीं तक था। इसके अलावा वहाँ के वातावरण में ऐसा कुछ भी नहीं था जिससे धर्मपरिवर्तन के उद्देश्य का आभास होता हो। वह किसी भी अन्य स्कूल जैसा ही था।”

“दूसरी महत्वपूर्ण बात यह थी कि उन लोगों ने दलित बच्चों को स्कूल में बनाए रखा, भले ही उन्हें निकालने के लिए स्कूल पर दबाव रहा हो। उन्होंने इसे अपना लक्ष्य बनाकर और दूसरी जातियों के बच्चों को दलितों के बच्चों के साथ ही पढ़वाया,” वह बताता है।

उसका सबसे छोटा बेटा एक हिन्दुवादी प्रवाह से जुड़े स्कूल में जाता है। “मेरी बेटी भी वहीं जाया करती थी, पर अब वह पाटीदार स्कूल में पढ़ती है क्योंकि जैसा कि मैंने पहले बताया वहाँ 11वीं और 12वीं की पढ़ाई बेहतर है,” वह दोहराता है। “मैं शिशु मन्दिर में हो रही अपने बेटे की पढ़ाई से बहुत खुश हूँ। मुझे सिर्फ पढ़ाई के स्तर से मतलब है, विचारधारा से मुझे कुछ लेना-देना नहीं। वह सब हम घर पर सम्भाल लेंगे,” वह कहता है। “मुझे पता है कि वे लोग स्कूल में खाने से पहले बच्चों से श्लोक बुलवाते हैं। पर वह घर पर ऐसा नहीं करता,” वह स्पष्ट रूप से कहता है। “मिशन स्कूल के बारे में भी मेरी यही राय थी। वे स्कूल में आपसे ईसाई प्रार्थनाएँ करवाते हैं। पर बच्चों पर धर्मपरिवर्तन का कोई दबाव नहीं होता।” थोड़ा रुककर वह फिर कहता है, “हिन्दुवादियों से मुझे यह शिकायत है कि वे लोग विरोध प्रदर्शन द्वारा किसी भी अन्य धार्मिक जुड़ाव वाले स्कूलों को प्रतिबन्धित करने की मांग करने लगते हैं। उन्हें इस मुद्दे का राजनीतिकरण करने की

कोई ज़रूरत नहीं।”

वह अपनी तीन साल की भतीजी – उसके भाई की लड़की – की ओर इशारा करता है और आगे कहता है, “मैं अपना चुनाव हमेशा बच्चे की भलाई को देखकर करता हूँ। इसके लिए हम नए खुले स्कूल, सेंट जॉन्स [रोमन कैथोलिक सन्यासियों द्वारा चलाया जाने वाला स्कूल] को परखेंगे। यदि वहाँ का स्तर अच्छा होगा तो हम लोग इसे वहीं पढ़ाएँगे, अन्यथा किसी बेहतर स्कूल में डाल देंगे जैसा कि बाकियों के साथ किया। ... पर मुझे एक बात कहना पड़ेगी। जिस तरह हमें पढ़ाया जाता था और जिस तरह आज पढ़ाया जाता है, उसमें बड़ा अन्तर आ गया है।”

तो पहले स्थिति बेहतर थी या बदतर थी? इसके जवाब में वो कहता है, “बेहतर। बुनियादी शिक्षा इतनी अच्छी हुआ करती थी। जिस तरह मैंने उस समय लिखना-पढ़ना सीखा, ये बच्चे उस तरह नहीं सीखते। जिस तरह उस समय लोग सहायक साधनों के द्वारा हमें पढ़ाते थे, वे सब इन बच्चों के स्कूल में अब नहीं दिखते।”

जितनी बारीकी से वह अपने बच्चों की शिक्षा में रुचि लेता है, वह उल्लेखनीय है। उसका विचार है कि इस उम्र में जैसा प्रोत्साहन उसकी बेटी को अपनी शिक्षा के लिए मिलता है और जितना प्रोत्साहन उसके बेटों को उनकी शिक्षा के लिए मिलता है, उनमें कोई बहुत फर्क नहीं है। पर वह

यह ज़रूर मानता है कि आगे की ज़िन्दगी में लड़कियों द्वारा उनके ससुराल पक्ष के मानकों के हिसाब से किए जाने वाले समझौतों के कारण उनकी शिक्षा बाधित हो जाती है। पर उसे लगता है कि इसका कोई विकल्प नहीं है और इस वजह से हो सकता है कि लड़कियों को नुकसान उठाना पड़ता हो।

वह हमें गर्व के साथ बताता है कि उसकी बेटी, जो जल्द ही अपनी 11वीं कक्षा की परीक्षा देने वाली है, उनकी जाति में इतना पढ़ने वाली पहली लड़की है।

मैंने सोचा कि क्या उसकी बेटी को इस बात पर गर्व होता होगा। वह ना में सिर हिलाती है और कहती है, “मुझे इस बात की खुशी है कि मैं पढ़ सकती हूँ। आज सभी लड़कियाँ पढ़ती हैं।” वह इसे कोई बहुत बड़ी सुविधा के रूप में नहीं देखती। उसकी चाचियाँ जो इन्दौर से हैं और शादी के बाद घर में आई हैं, भी शिक्षित हैं। “मेरी माँ पढ़ी-लिखी नहीं है,” मालती कहती है। “पर चूँकि उसके बच्चे और दूसरी देवरानियाँ, सभी पढ़े-लिखे हैं इसलिए वह बहुत कुछ सीख गई है,” राजेन्द्र ने बताया। “अब हमारी माँ अँग्रेज़ी के [कुछ] शब्द भी समझ लेती है। हम उससे कुछ बातें छुपाने के लिए अँग्रेज़ी के शब्दों का इस्तेमाल करते हैं, पर आजकल वह हमारी बातें पकड़ लेती है,” मालती गर्व के भाव से कहती है।

इस बातचीत से यह स्पष्ट होता

है कि शिक्षा में लिंग और जाति से जुड़े भेदभाव के रूप भले ही बदल गए हों, पर वह कई सूक्ष्म रूपों में अभी भी मौजूद हैं। चूँकि भेदभाव को सामाजिक स्मृति में ज़्यादा गम्भीर और प्रत्यक्ष रूपों में परिभाषित किया गया था (जैसे छुआछूत या किन्हीं खास स्थानों में प्रवेश की मनाही जैसी बातें), इसलिए उसके कहीं अधिक सूक्ष्म रूपों को अनदेखा कर दिया जाता है।

दूसरी तरफ, हालाँकि नई पीढ़ियों ने चरम भेदभाव को नहीं झेला है, फिर भी इसके बारे में वे बहुत गहराई से महसूस करते हैं और उनका झुकाव उसके खिलाफ अपने विरोध को अधिक मुखर ढंग से व्यक्त करने की ओर रहता है। बसपा जैसे नए संगठन भी कस्बे में दलितों के संगठित होने की बढ़ती प्रवृत्ति की ओर इशारा करते हैं।

कस्बे में हमने जिन संस्थाओं का ज़िक्र सुना है, शैक्षिक मुद्दों पर उनके व्यवहार से यह झलकता है कि उनमें समाज की मुख्यधारा के साथ मिलकर चलने की प्रवृत्ति बढ़ी है।

पालकों के द्वारा उनके बच्चों की शिक्षा और उनकी शैक्षिक संस्था का चुनाव मुख्यतः दो कारकों पर निर्भर करता है – उनकी आर्थिक क्षमता और शिक्षा की गुणवत्ता। इसे राजेन्द्र ने अच्छी तरह से समझाया है, “मैं वही करूँगा जो मेरे बच्चों के लिए सर्वश्रेष्ठ हो। हमारा उद्देश्य यह है कि उन्हें ऐसी बुनियाद मिल सके जहाँ से वे जीवन में अधिक-से-अधिक तरक्की



कर सकें।” ऐसी संस्थाएँ व्यापक रूप से पड़ने वाले आधुनिक प्रभावों से अछूती नहीं रह सकतीं। उदाहरण के लिए, उन्हें भाषा के रूप में अंग्रेज़ी को महत्व देना पड़ता है, क्योंकि अधिकांश पालक चाहते हैं कि उनके बच्चे यह भाषा सीखें। इससे यह साफ होता है कि किस प्रकार शिक्षा को अब मुख्य रूप से एक पेशे की तरह देखा जाता है जिसकी गुणवत्ता और उद्देश्य के पैमाने निश्चित हैं, और ये हैं नतीजे तथा बच्चों को उससे मिलने वाले अवसर। यह दृष्टिकोण फीस देने वाले पालकों और संस्थाओं, दोनों के लिए काम करता है। पर विशिष्ट विचारधाराओं से जुड़ी संस्थाओं के पास हमेशा यह विकल्प मौजूद रहेगा कि वे जब चाहें अपने रवैये को उदार

बना लें और जब चाहें तो अपने मूल स्वरूप पर लौट सकें।

परन्तु किसी भी निजी स्कूल ने खास तौर पर दलितों की या लड़कियों की शिक्षा पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं किया है। केवल सरकारी स्कूलों में ही ऐसी योजनाएँ हैं जो लड़कियों और दलितों को स्कूल जाने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। इस कस्बे में जो दो स्कूल सिर्फ लड़कियों के लिए बने हैं, वे सरकारी स्कूल हैं। इस बिन्दु पर आकर हमें (प्रशासनिक) नीति और सामूहिक सरकारी स्कूलों का महत्व समझ में आता है। सभी निजी स्कूलों की कोशिश अपने स्कूलों में ज़्यादा-से-ज़्यादा बच्चे जुटाने की रहती है बशर्ते कि वे अपनी फीस जमा कराते रहें।

**रिनचिन:** महिलाओं व सामाजिक समानता से जुड़े मुद्दों पर काम करती हैं। भोपाल में रहती हैं।

**महीन:** शोध एवं दस्तावेज़ीकरण का काम करती हैं। भोपाल में निवास।

**अंग्रेज़ी से अनुवाद: भरत त्रिपाठी:** पत्रकारिता में पी.जी. डिप्लोमा। स्वतंत्र लेखन और द्विभाषिक अनुवाद करते हैं। होशंगाबाद में निवास।

यह लेख सन् 2007 में किए गए एक अध्ययन का भाग है।

इससे सम्बन्धित अन्य लेख पढ़ें (एक स्कूल का इतिहास सोनी बुआ के साथ) संदर्भ अंक 58 में और (लड़कियों की शिक्षा अब भी चुनौती है) अंक 65 में।

\* इस साक्षात्कार में आए सभी नाम परिवर्तित हैं।

